साक्षात्कार

1. कारखाने से वी.आर.एस. लेने और सन्तानों के बड़े हो जाने के बाद अब तो समय की कमी को लेकर आपको किसी प्रकार की शिकायत नहीं है?

संजीव : समय सबसे मूल्यवान चीज है। निश्चित रूप से कारखाने का जो आठ घंटे काम करने का कांसेप्ट है, ऑफिस से आने के बाद भी ये करना, वो करना, ये सारी बातें छोड़ दीजिए। सिर्फ ये समझ लीजिए कि लिखना मेरे लिए चौबीसों घंटे का कार्यक्रम रहा है, जिंदगी में, वरना मैं लिख नहीं पाता। समय का अभाव तो है ही है। मैं और दूसरे लेखकों के बारे में नहीं जानता, लेकिन मुझे जितनी बातें लिखनी है, सुविधाओं के माध्यम से वो जितनी आ सकती हैं, वो चीज नहीं है मेरे पास। मैं एक सुविधाविहीन दायरे में रहता हूँ। इधर-उधर आना-जाना है, एक आदमी जो है सहायक होना चाहिए। जो किताबें या रिफरेन्स बुक जब जो चाहूँ वो उपलब्ध करा दे। जहाँ चाहूँ जा सकूँ, जिससे चाहूँ मिल सकूँ, सब नहीं लेकिन कुछ अंशत: तो होना चाहिए, वरना एक लेखक की जिंदगी बहुत सीमित हो जाती है। मेरे साथ ये दिक्कत है, बस कुछ ज्यादा नहीं और हर आदमी के साथ होंगे। परंतु मैं जिस तरह का लेखन करता हूँ, उसमें मेरी भाग-दौड़ और उसके गहरे झाँकना, चीजों का विश्लेषण करना, समझना-बुझना, इसकी ज्यादा जरूरत होती है। उस लिहाज से समय का या कहूँ सुविधा का या यूँ कहूँ कि समय और सुविधा दोनों का अभाव तो खलता है।

2. आज जबकि आपके दस से ज्यादा उपन्यास आ चुके हैं, क्या ज्यादा सफल है, एक कथाकार संजीव या अभिभावक संजीव?

संजीव : ये तो खैर, सफलता या असफलता का जो निर्णय है वो दूसरे लोग करते हैं। मैं संतुष्ट हूँ; या संतुष्ट नहीं हूँ, इस विषय पर बात की जा सकती है। लेखक मैं बाद में बना, पारिवारिक आदमी पहले था। लेकिन परिवार के प्रति जिस सक्षम ढंग से जितनी भूमिका अदा करनी चाहिए थी, मैं नहीं कर सका। इस तरह अभिभावक तो वहाँ फेल है। बच्चों ने बहुत अभाव में रह करके, बहुत दबाव में रह करके जिंदगी जी है। मैं उन्हें वे सुविधाएँ नहीं दे सका, जो कि उनको चाहिए थी। मुझे नहीं मालूम कि वो बड़ी सुविधाएँ क्या होती हैं, लेकिन इतनी

तो सुविधा होनी चाहिए एक आदमी को जो पढ़ रहा है कि वो अपनी क्षमता के अनुसार विकास कर सके। अभिभावक वहाँ फेल हैं और लेखक के रूप में कोई-कोई सफलता मुझे मिली है। इसलिए कि लेखन एक मनोगत कार्य है और उसमें जितना भी वक्त मुझे मिला, उसका मैंने युटिलाइज किया और इस तरह से कुछ चीजें मैं दे पाया। जैसे आप अगर जानना चाहते क्या-क्या? तो कोयले पर पहला उपन्यास मैंने लिखा, सर्कस पर पहला उपन्यास मैंने लिखा, मुझे नहीं मालूम और लोगों ने लिखा या नहीं, मुझे जहाँ तक मालूम है मैंने ही लिखा है। और बहुत-सी ऐसी चीजें जो अछूती रह गई थीं जिनको छुआ नहीं था लोगों ने। मतलब कई कारण थे उनको न छूने के। ये जो दलित साहित्य या पिछड़ा साहित्य के जो मामले थे, इसमें बहुत सारी चीजें ऐसी थीं जो लिखी जानी चाहिए थीं लेकिन स्वर्णवादी मानसिकता से ग्रस्त लोगों को नहीं लगा होगा कि हाँ इसे लिखना भी जरूरी है। उन सब पर मैंने बहुत सारा काम किया। मेरे पंद्रह के लगभग उपन्यास हैं। और सती प्रथा पर, सती प्रथा तो आज की बात नहीं है। इसे कितनों ने देखा, कितने बड़े-बड़े शंकराचार्य हुए, जाने क्या-क्या हुए, बड़े-बड़े नामी-गिरामी लोग हुए, उनको नहीं समझ आया कि एक औरत को जिंदा जलाया जाना, उसके पीछे दर्द क्या है? तुक क्या है? नैतिकता क्या है? कुछ भी नहीं। इस तरह सारे हिंदी समाज को मैं कहता हूँ, कुछ एक अपवादों को (उनमें दो ही तीन हैं ज्यादा नहीं) छोड़कर कि सबके-सब उसी मानसिकता से ग्रस्त हैं कि मैं जी रहा हूँ, हाँ! मुझे क्या जरूरत है ताकने-झाँकने की, कि एक औरत जल रही है। दलित या पिछड़ा या मुस्लिम से घृणा हो रही है। लेकिन औरत के प्रति जो अन्याय है वो मैंने ही पहली बार महसूसा। मुझे चैन नहीं मिलता था जबतक मैं ... वो पहचाना और पहचान कर लिख नहीं लिया।

3. जिस दलित की बात आप कर रहे हैं, इसी से संबंधित मेरा अगला प्रश्न है कि आपके कथा-साहित्य में उठाये गये अधिकांशतः मुद्दों के आधार पर आपको दलित साहित्यकार क्यों न कहा जाय?

संजीव : ये विवादास्पद बात होगी। मुझे नहीं मालूम कि परिभाषाएं क्या हैं? कैसे बनती हैं? कौन बनाते हैं? मुझे कुछ भी कह लीजिए, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता है। हाँ! मैंने दलितों

के ऊपर, असर्वणों के ऊपर या गरीब लोगों के ऊपर जो सवर्ण भी हैं, लिखा है। इससे क्या हुआ? मैंन 'आकाशचम्पा' लिखा, उसमें ब्राह्मण पात्र है। 'जंगल जहाँ शुरू होता है' में ब्राह्मण नायक है, तो क्या मैं ब्राह्मणवादी लेखक हो गया। मैं लेखक हूँ, मुझे जहाँ-जहाँ सड़ा-गला उपेक्षित दिखाई पड़ता है, मैं उसकी तरफ जाता हूँ। परिवार में देखिए जो बच्चा सबसे ज्यादा विकलांग या उपेक्षित होता है उसकी तरफ माता-पिता की नजर थोड़ा ज्यादा जाती है, वो उसको उठाकर कलेजे से लगाते हैं। तो लेखक भी समाज के लिए वही होता है। तो मुझे दलित लेखक कह लीजिए मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता, लेकिन दलित लेखन की परिभाषा क्या है? मुझे ठीक मालूम नहीं है। लेकिन असल में जो दलित लेखक हैं, वे मुझे पसंद नहीं करते हैं। क्योंकि उनकी नजर में भिखारी ठाकुर दलित नहीं थे। वे दलित नहीं थे तो क्या थे हमको नहीं मालूम है, वे परिभाषा बनाते रहें, क्योंकि आजकल ये सब जो परिभाषाएं हैं अपने को हाइलाइट करने के लिए बनती हैं। इधर से नहीं तो उधर से कुछ हमको रियायत मिल जाए। मैं नहीं माँगता हूँ इनकी रियायत। मैं इन सब चीजों से दूर हूँ। आप जानते हैं 19 साल तक मेरा प्रमोशन नहीं हुआ। इस तरह से बहुत सारी जिंदगी मैंने ऐसी जी है, जिसका कोई मतलब नहीं है। आज क्या बताऊँ ....क्या बताऊँ ....मत कहिए...(भावुक होकर)।

4. आजकल जिस प्रकार से समाजशास्त्रीय अध्ययन का प्रचलन चला है, बहुत सारे लोगों का मानना है कि इससे कला धुमिल पड़ती है। आपकी रचनाओं में विभिन्न सामाजिक समस्याओं को उठाया गया है, आपको क्या महसूस होता है कि साहित्य के समाजशास्त्र के अध्ययन से कला क्या धुमिल पड़ती है या पड़ी है?

संजीव : मैं क्या बताऊँ शायद हिंदी-साहित्य में अकेला पड़ता जा रहा हूँ। आपको लिखना नहीं आता है, आप अंदर से कलाकार नहीं हैं, आपने समस्याओं, स्थितियों और परिस्थितियों, इतिहास और भूगोल के दबाव में जीना सीखा नहीं है, यानी आप उस पात्र में, परिस्थिति में डूबे नहीं हैं तो आपको पचास बहाने आएंगे। जैसे हमारे यहाँ कहते हैं न कि मेहरी (पत्नी) को छोड़ना हुआ तो कहेंगे साग में हल्दी नहीं डाली है। लिखना आप को आता नहीं है। लिखें न, पूरा तो पड़ा हुआ है मैंने जो-जो लिखे – कोयला, सर्कस, सती, इललिगल कोल

माइनिंग और बहुत सारी चीजें हैं। मैं अभी जो इतना कर रहा हूँ किसी ने लिखा, किसी ने पकड़ा था हाथ उनका, नहीं लिखा। नहीं लिखा क्योंकि ये चीजें उनके क्षेत्र में नहीं आती थीं, उनके रुचि में नहीं आती थीं, मैं समझता हूँ, सामर्थ्य में भी नहीं आता है, नहीं तो ये चीजें उपेक्षित नहीं रही होतीं। कला का जहाँ तक प्रश्न है, उपन्यास या कथा-साहित्य या कविता तो कला ही है न। अगर कला का उसमें संस्पर्श नहीं है, तो कला हुई कहाँ से वो। अगर आपके अंदर कला ही नहीं है तो आपको अपील कैसे करेगी। मुझे कोई बता दे कि कला के मायने में कहाँ चुका हूँ मैं, तब तो उनकी बात सुनी जा सकती है। मेरा बहुत सिंपल बहुत साधारण-सा फार्मूला है, जिसमें शैली है, स्टाइल ऑफ लाइफ है कि मैं जिस पात्र को लिख रहा हूँ, उसमें डूब जाता हूँ। अगर मेरे पात्र जन्मना ब्राह्मण हैं, तो उनमें मुझे डूबना पड़ता है, जन्मना दलित हैं तो उसमें, और नीचे स्तर पर के जन्मना आदिवासी हैं तो उसमें डूबना पड़ता है। परकाया प्रवेश मेरी पहली कोशिश होती है जब तक मैं उसको अपना न बना लूँ, जब तक उसमें एकमेक न हो जाऊँ, तब तक मैं नहीं लिख पाता। और क्या ऊपर-ऊपर की बात लिखूँगा और अगर कहीं किसी पात्र में किसी परिस्थिति में कोई चुक हुई हो, मैं नहीं जानता हुई है, तो निश्चित रूप से मैं उसमें डूबा नहीं हूँ। फिर भी मुझे लगता है कि शायद ऐसा कम ही है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी दलित स्त्री या किसी भी जात की स्त्री का बलात्कार हो रहा है तो जिसका बलात्कार हो रहा है वो भी मैं हूँ, जो बलात्कारी है वो भी मैं हूँ, जो दर्शक हैं वो भी मैं हूँ, इतिहास और भूगोल की जो परिस्थितियाँ हैं, उसमें जो लोग भी ताक-झाँक कर रहे हैं वो भी मैं ही हूँ। इतनी सारी चीजों को लेकर चलना पड़ता है लेखक को। जब तक वो सबमें नहीं है, तब तक वो क्या लिखेगा?

5. आप विज्ञान के छात्र रहे हैं। आप अपनी रचनाओं में जिस धड़ल्ले से अंग्रेजी, तकनीकी और वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग करते हैं, पाठकों के लिए अबूझ एवं असंप्रेषणीय होने का खतरा नहीं सताता है?

संजीव : तो उसका उपाय क्या है, हमारे यहाँ तो लोग मंत्रों से सारे समाधान कर देते थे जो कि एक मूर्खता भरा काम रहा है, मूर्खता भरा प्रयास रहा है और ये साइंस की बातें हैं

अब मैं जींस को क्या कहूँ? बताइये। क्रोमोजोम को गुणसूत्र कह लेते हैं। ये सारी हिंदी जबरदस्ती बनाई गई है। आप को जब खोज करना था तो आप अनुसंधानात्मक थोड़े रहे थे, आप तो ब्राह्मणवाद के शिकार रहें, आप तो अंधी श्रेष्ठता के शिकार रहें। विज्ञान में आपने लगभग-लगभग कुछ एक अपवादों को छोड़ दें तो कुछ भी उपलब्धि हासिल नहीं की, सब आप का वेद है, गीता है, फलां हैं, ढेकां हैं, जो अमूर्तवादी अवधारणाएँ हैं, दर्शन की, अध्यात्म की, उसमें आप डूबे रहें। इसलिए वैज्ञानिक विकास जहाँ-जहाँ हुआ है, वो निश्चित रूप से अंग्रेजी में या दूसरी भाषाओं में हुआ है, तो हमें उन शब्दों का प्रयोग तो करना पड़ेगा न। वही मेरे कहने का मतलब है कि अगर आविष्कार अंग्रेजी में हुआ तो उन शब्दों को जबरदस्ती हिंदी बनाकर हमारी गोद में शामिल नहीं कर पाएंगे। हमारे संस्कारों में शामिल नहीं हो पाई है वो भाषा। हमारा विकास जिस क्षेत्र में होना चाहिए, तो वहाँ हम चुकें। तो वो चुक सारी मुझ पर क्यों निकाल रहे हैं। कितने सारे विज्ञान और जनेटिक्स के साहित्य आपके लिए अबूझ भाषा में है। लेकिन अगर उसको नहीं लिखा जाय तो इसका मतलब है उसको छोड़ दिया जाय, तो क्या लिखा जाय फिर?

6. आपने कविता लेखन छोड़कर गद्य में प्रवेश किया था। आपने रविशंकर सिंह से साक्षात्कार के दौरान कहा था कि आप जो कहना चाहते थे और जिस तरह कहना चाहते थे, उसके लिए कविता का दायरा आपको अपर्याप्त लगा। आप अपने लेखन के दौरान आर्थिक तंगी से भी गुजरे। आज जबकि बहुत सारे कवि, कविता के माध्यम से अधिक आय और प्रसिद्धि दोनों प्राप्त कर रहे हैं। कहीं आपके दिल में कविता को त्यागने के प्रति कचोट तो नहीं है?

संजीव : क्या मैं पैसे के लिए साहित्य में आया था। आपके सवाल का दो-टूक उत्तर तो ये है। दूसरे धंधे नहीं हो सकते थें, पैसों के लिए। मैं साहित्य को या चीजों को अपने एंगिल से समझने के लिए, परकाया प्रवेश के माध्यम से उन जिंदगियों को फिर से जीने के लिए साहित्य में आया। वहाँ पैसे का या प्रसिद्धि का मामला तो बनता नहीं है। वो तो एक संयोग है, बाई प्रोडक्ट है। अब जिनको पैसे मिल रहे हैं कविता के माध्यम से या और किसी चीज

के माध्यम से, तो उसको वे समझें, समाज समझे, मुझे क्या करना है इससे, मैं क्या कर सकता हूँ? बताइए।

7. आपने अपने उपन्यास 'किशनगढ़ के अहेरी' का पुर्नलेखन 'अहेर' नाम से किया। क्या इसके पीछे सिर्फ राजेंद्र यादव जी का फतवा था या आपकी विनम्रता या कुछ और? क्योंकि उन्होंने आपको 'सावधान! नीचे आग है' उपन्यास के प्रति भी विचलित किया था। जबकि कृष्णा सोबती जैसी लेखिका कुछ भी लिख देने के बाद उसके एक शब्द के साथ हेर-फेर भी बर्दाश्त नहीं करती थीं।

संजीव : कृष्णा सोबती जी या कमलेश्वर जी, य सब मेरे आदरणीय हैं। मैं जैसा लेखक हूँ – बताया न, हिंदी में या पता नहीं और किसी भाषा में है या नहीं है या विरला ही होगा। मैं अनुसंधानपरक लेखक हूँ। विज्ञान ने मुझे अनुसंधानपरक बनाया है। चीजों को बिना जाने या बिना उसमें डूबे, मुझे लिखना अपर्याप्त लगता है। जहाँ तक हस्तक्षेप की बात है तो ऐसे बहुत सारे लोग हैं जो अपने लेखन में हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं करते हैं। 'किशनगढ़ के अहेरी' के पुनर्लेखन के बारे में मैंने 'अहेर' की भूमिका में लिख दिया है। दरअसल धर्मवीर भारती को वह उपन्यास पसंद था। बहुत सारे लेखक थे जिनको नहीं पसंद था, कुछ लोगों को आधा पसंद था आधा नहीं पसंद था। राजेंद्र यादव सबसे ज्यादा पढ़े-लिखे वार्मिंग लेखन करने वाले व्यक्ति थे और पठन-पाठन भी वे काफी करते थे, यानी कि पूरा कथा-साहित्य – अश्लील साहित्य से लेकर उत्कृष्ट साहित्य तक वे पढ़ते थे। उनका और विदेशी भाषा में जो कोयला पर लिखा हुआ था, उसको मैंने पढ़ा था। उनका कथन यह था कि नहीं, इस तरह से नहीं, अभी तुमने चीजों को थोक-थोक रख दिया है, 'सावधान! नीचे आग है' में। इसको उपन्यास बनाओ, यार उपन्यास कहाँ बना यह! ये बात उनकी थी, तो फिर इस तरह से संशोधन हुआ, बाकी 'अहेर' में भी उन्होंने भूमिका कहना था। इस तरह से जब लोगों की बात मेरे समझ में आ गई कि हाँ वो सही कह रहे हैं, तो मुझे फिर इसे लिखने की आवश्यकता महसूस हुई। आप देख सकते हैं, दोनों राइटिंग है मेरे पास, 'किशनगढ़ के अहेरी' भी है 'अहेर' भी है। फर्क आप देख सकते हैं।

8. 'रह गईं दिशाएँ इसी पार' उपन्यास में आप जो टॉक्सीन हार्मोन के दुष्परिणाम यानी शरीर के प्रतिरोधक क्षमता का कम होना, वक्त से पहले बाल सफेद होना, हड्डियों का कमजोर होना, नये-नये रोगों से शरीर का ग्रसित होना इत्यादि बातें करते हैं, तो इतनी बड़ी जनसंख्या का पेट भरने का विकल्प और क्या है? और सुंदर-सुंदर फल सब्जियों के प्रति हमारा मोह भी तो है।

संजीव : प्रतीक की तरह विज्ञान भी एक ब्लाइंड फोर्स है जो निरंतर शोध की प्रक्रिया से गुजरता हुआ एक उपमान है, विषय है। आज जो आप सोच रहे हैं, कल उसका संशोधित रूप चला आएगा। उदाहरण के लिए इंसान जब चाँद पर गया था, उस समय के कम्प्यूटर से बेहतर है आज का एक अच्छा मोबाइल। मेरे कहने का मतलब है कि विकसित हो गया है विज्ञान। विज्ञान का विकसित हो जाना मतलब पुरानी चीजों को छोड़कर संशोधित करके आगे बढ़ना। ये जो हार्मोन्स की बातें हैं और बहुत सारी बातें हैं तो कल की दुनिया क्या थी, उससे आगे बढ़कर है वो। मैंने ऐसी चीजों को खंगाला है, तोड़ा है, जोड़ा है और मानव सभ्यता के अनुकूल बनाया है, उसका विनाश नहीं कर सकते हम; परंतु आज जबकि विज्ञान पूंजीपतियों के हाथों में है, तो उसमें खतरा तो हमेशा रहेगा। आज सेटलमेंट के लिए भी संशोधन हो सकता है, विनाश के लिए भी हो सकता है। जैसे ये जो कोरोना है किस तरह उसका साइड इफेक्ट है, पता नहीं कब तक रहेगा। इसके अलावा ग्लोबल वार्मिंग है, मनुष्य के अत्यधिक लालच ने प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करके जलवायु परिवर्तन कर दिया है। तो वो जो हार्मोन्स की बातें हैं, बहुत सारी बातें की जा सकती हैं उस पर। क्योंकि वो एक शोधपरक उपन्यास था, विदेशी सोच से आक्रांत भी कहा गया उसको। मैंने उसमें बहुत सारी चीजों की हीन्टस दे रखी है तो उसके आधार पर अगले आने वाले दिनों में क्या हो सकता है, क्या नहीं हो सकता है, विचार किया जा सकता है। मैं समझता हूँ कि साइन्स और सोशलसाइन्स, विज्ञान और समाजविज्ञान के बीच हालात रहनी चाहिए – जिंदगी की और दुनिया की, तभी हम सुखी रह पाएंगे। अन्यथा एक चढ़ेगा, तो एकांगी प्रगति होगी। साइन्स अगर अकेला रहेगा तो एटम बम बनेगा, हाइड्रोजन बम बनेगा लेकिन अगर सोशल साइन्स उसको गाइड करता है तो दोनों मिलकर एक तरह से हमारे लिए बहुत बेनिफिसियल रहेंगे। इसलिए मनुष्य को बिल्कुल

एकांगी नहीं होना चाहिए।

9. **'अपराध'** कहानी में संघमित्रा अपराध वृत्ति खत्म करने के लिए मनुष्य का जीन्स बदल देना चाहती है। 'रह गईं दिशाएँ इसी पार' उपन्यास में भी चूहों पर जीन्स का परीक्षण चलता है कि वह कौन-सा जीन्स है जिसके कारण अंधे चूहा-चूहिया के बच्चे भी अंधे पैदा होते हैं। अपराध, भ्रष्टाचार, अन्याय, पूंजीवाद, जाति-भेद, आर्थिक-विषमता रूपी कैंसर से समाज का जीन्स परिवर्तन क्या संभव दिखता है?

संजीव : नहीं, नहीं! हो रहा है, बदलना शुरू हो गया है, आपके दिमाग को ही पूरा बदल देंगे। जीन्स का बदला जाना शुरू हो चुका है, लेकिन ये गलत दिशा में हो रहा है। इसीलिए मैंने कहा कि मनुष्य को साइन्स और सोशल साइन्स के बीच में चलना चाहिए। समाज की जो परिवर्तनकामी और शुभ शक्तियाँ हैं उनका मत बदल जाना, थककर बैठ जाना हमारे लिए मौत का शिला है। अभी तो वही हो रहा है न। एक व्यक्ति जो है सिर्फ अपने लिए कुछ करना चाह रहा है पर अपने लिए भी वह कर नहीं पाएगा क्योंकि आदमी की एक सीमा होती है। कितना भोगेगा औरतों को, कितना भोगेगा धन-संपत्ति को, दूसरे के चीजों को, अंततः तो उनको खत्म होना ही है। 'रह गई दिशाएँ इसी पार' इतना छोटा उपन्यास नहीं है, बहुत बड़ा उपन्यास है। आदमी को अमर और अजर (बूढ़ा नहीं होना) होना है और उसका माध्यम कौन बनेगा – ये साइन्टिस्ट। लेकिन दोनों ही एक्सपरिमेंट फेल हुए। पूंजीपति परचेज करेगा, वो सब चीज खरीदेगा, लेकिन खरीदने की भी इन्तहा होती हे। ये इन्तहा उनको बताती हैं कि 'पंक्षी कितना उड़े आकाश आना है धरती के पास'। तो तुम मनुष्य से दूर नहीं जा सकते। अपने लोगों से दूर सिर्फ अपने लिए ही दुनिया बनाके तुम जिंदा और सुखी नहीं रह सकते। ये हमलोगों का अपना कला का क्षेत्र है, लेखन का क्षेत्र है, हम उसमें सतर्कवाणियाँ करते रहते हैं। आनेवाली दुनिया अपने हिसाब से उसको लेती है, कितना लेती है कितना नहीं, उस पर डिपेंड करता है। कितना मूर्त बना सकती है, इस पोजेटिव शक्तियों को, इसी पर डिपेंड करता है कि भविष्य में जिंदा रहेगी यह जाति, समाज, देश और सभ्यता या नहीं।

10. **'रह गईं दिशाएँ इसी पार'** उपन्यास में साइंटिस्ट विशाल गलत ट्रीटमेंट का शिकार हो जाता है, तो साधारण व्यक्ति की क्या बिसात? एक तरफ डॉक्टरों की लापरवाही, धड़ल्ले से एंटीबायोटिक्स, एकस्ट्रा टेस्ट और एकस्ट्रा दवा को प्रिस्क्राइव करना, वकीलों की तरह कई वीजीटों में पैसा ऐंठना तथा दूसरी तरफ कोरोना पिरीयड में निष्ठापूर्वक सेवाभाव? थोड़ा प्रकाश डालें।

संजीव : मैंने पहले ही कहा दिया, ये सब दुधारी तलवार हैं। आप उसको मानव दृष्टि में भी इस्तेमाल कर सकते हैं और उसके विरुद्ध इस्तेमाल कर सकते हैं। जिन जातियों की बात की जा रही है उसमें सुना है कई जगहों पर किडनी भी निकालते हैं, कोरोना के केस में। और कई बार व्यक्ति को कोरोना नहीं है, तब भी उसको कोराना कहकर उसका इलाज करते हैं और उसके बाद उससे भारी रकम ऐंठते हैं। मेरी चचेरी भतीजी का बेटा, कोरोना पर रिसर्च कर रहा था वो मारा गया, तब किसको दोष दीजिएगा। ये चीजें जो हैं बड़ी रहस्यमय हैं। नैतिकता और निष्ठा जो है बिल्कुल अलग चीज है। इसीलिए साइंस को सोशल साइंस के वगैर नहीं।

11. 'फाँस' उपन्यास के पात्र एवं घटनाएँ 'गोदान' का विस्तार प्रतीत होती हैं। इन पात्रों एवं घटनाओं के बीज क्या सुल्तानपुर के बांगरकला में ही पड़ गए थे?

संजीव : नहीं! बहुत साधारणीकरण हुआ ये दोनों बातें आपकी। पहली बात तो यह कि 'गोदान' का यह जो प्रश्न है वो किसानी है, खेती उसमें चूँकि जुड़ी हुई है, इसलिए थोड़ा बहुत भले आ गया है, लेकिन मुख्यतः किसानी है। इसमें किसानों का महाजनी शोषण, सांप्रदायिकता या आचार-संहिता जैसी चीजें हैं। खेती और किसानी दोनों में थोड़ा अंतर है। 'फाँस' में खेती जो है वो गले का फाँस बन चुकी है, वो इस तरह का फाँस बन चुकी है कि उसको न छोड़ते ही बनता है – किसान करेगा क्या? न अपना सकता है, क्योंकि उससे कुछ आय नहीं हो पा रही है। इस तरह से जो अन्नदाता है, वस्त्रदाता है, हमें कपड़े देते हैं, हमारा तन ढँकते हैं, जो समाज के प्रगति का अग्रिम पहिया है, खेती उनके लिए गले का फाँस बन गई है। 'गोदान' में यह समस्या नहीं है, 'गोदान' की समस्या है कि किसान का किस प्रकार से शोषण हो रहा है,

किस तरह से सूदखोर और अन्य शक्तियाँ उनका शोषण कर रही हैं, उनको किसान से मजदूर बना दे रही हैं। यहाँ खेती जो है उनके जी का जंजाल बन गई है। आप देखिए, कहीं भी खेती है गोदान में? नहीं होगी। क्योंकि हमलोग तो दूसरे ढंग के लेखक हैं। हमने हल भी चलाया है, बीजवपन भी किया है और बिनाई, गोड़ाई, कटाई सब किया है, मतलब वो जो जिंदगी है वो देखी है। किसानों के आंतरिक और वाह्य शोषण के बारे में हम जानते हैं। प्रेमचंद जी बहुत बड़े लेखक हैं, पता नहीं उन्होंने कितना किया है कितना नहीं, मैं नहीं जानता। लेकिन 'गोदान' में वो तो नहीं आता जो कन्फ्यूजन है जैसे अब उनकी छोड़ी गई चीजों को दाब के लिखने के लिए दूसरों के पास सहुलियतें हैं, तो लेखक समुदाय जो है उसे समझ में नहीं आता है।

'फाँस' उपन्यास में छोटी एक बीया के लेकर झगड़ा करती है, बीज से झगड़ा करती है, सोचिए, बीज से क्या झगड़ा करना, लेकिन नहीं! उसकी पांत आगे निकल गई है, उसके पिता, माता और बहन, लेकिन वेा उसको ले करके झगड़ रही है –कि अगर इस बार तुम सूखे, इस बार तुम बहे-बिलाये, नहीं जमें, तो मैं तुम्हें छोडूँगी नहीं, माफ नहीं करूँगी, फटकार लगा रही है उसको। तो ये सब जो यहाँ है, वहाँ ये सब नहीं हो सकता। प्रेमचंद जी बहुत बड़ सिद्धे हैं लेकिन वे मेनली किसानों की समस्या पर लिखा करते थे और ये उपन्यास खेत के साथ-साथ बीज की, किसानी के साथ-साथ खेती की समस्या पर है यानी खेत में क्या मारी जा रही है, खेती में क्या अनुत्पादक हो गया है।

दूसरी बात यह है कि गोदान उत्तर-प्रदेश के किसानों का है। हमने पूरे देश की, पूरे विश्व की किसानों की समस्याओं को देखा। मेरी औकात नहीं थी, लेकिन दुनिया जिस तरह से आगे बढ़ रही है, इसलिए मुझे कुछ सहुलियतें मिल गईं। प्रेमचंद जी को वे सहुलियतें नहीं मिली थीं या उनका कुछ और था। जो उन्होंने किया, अपने ढंग से किया, मैंने जो किया, अपने ढंग से किया। यहाँ केलिफोर्निया से लेकर चाइना तक के सारे किसानों की आनेवाली समस्या को मैंने देखा। हालांकि बहुत सतही ढंग से कहीं-कहीं देख पाया। पूरे दिल्ली में जो बिगड़ थी किसानों की, भारत के बुंदेलखंड के और अन्य-अन्य जगहों के किसानों की समस्या को देखा। अब यहाँ जैसे ये कपास या सोयाबीन की खेती है, जो होती रही है वहाँ, तो मैंने खुद उस खेती में

कपास चुने हैं और सारा कुछ मैंने देखा है, समझा है, बुझा है। कई गाँवों का मैंने सफर किया है, कई आत्महत्या हुई घरों में गया। रात को गेस्ट हाउस में रहकर रोता रहता था। मेरे साथ क्या-क्या नहीं होता था, लेकिन मुझे लिखना था इसलिए उस जिंदगी में मुझे जाना था और मैंने उसे पूरा किया। प्रेमचंद जी दूसरे ढंग के लेखक थे, महान थे, लेकिन ये चीजें उनके सामने नहीं थीं न, विदर्भ नहीं था, यू. पी. के प्रतापगढ़ का इलाका था वह। उसके माध्यम से वह जहाँ तक देख सकते थे, देखें। और वो महान रचना है। और यहाँ जो है दूसरी बात है। आप दोनों उपन्यासों को साथ-साथ पढ़िएगा। फिर भाषा देखिए, अंतर है। कई लोग हमको धिक्कारते रहें, क्या मुलगी-मुलगा लगा रखे हो ये गायको वैगरह, हमने कहा नहीं, यह मुझे समझाइये मत, अपना पांडित्य अपने पास रखिए, मुझे अगर किसान की बात लिखनी है, तो उसकी भाषा में, कम से कम इतना तो हो कि वो समझें हमारी जीत है। अब किसान को किसान न कहकर कृषक कहूँ, खेती की जगह कृषि लिखूँ, तब तो हो गया। अब आनेवाले लोग तय करेंगे कि लोग जैसा बोलते हैं वैसा लिखना सही है या नहीं। लेकिन जो ब्राह्मणवादी समाज है, वो तो नहीं पसंद करते, वे तो कहते हैं क्यों? उसको लड़का-लड़की नहीं लिख सकते थे।

भारत के विभिन्न अंचलों के जैसे गुजरात का किसान किस चीज का मारा हुआ है, पंजाब का किसान किस चीज का मारा हुआ और इधर बुंदेलखंड का किसान किस चीज का मारा हुआ है। ये जरूरी नहीं है कि यहाँ भी किसानों की समस्या एक हो लेकिन मैं जो लिखता हूँ, कैलिफोनिर्या की समस्या, चाइना की समस्या, इंडिया की समस्या, इंडिया के विभिन्न अंचलों की समस्या एक है। मैं लिखते वक्त उसका समग्रता में आकलन कर रहा था। जो लोग कम मेहनत करते हैं उनको ये सब चीजें हल्की-फुल्की लगती हैं, लेकिन हल्की नहीं हैं। पर मैं क्या करूँ? what can I do? मैं क्या कर सकता हूँ? देख ही सकता हूँ न!

12. आप जिस ढंग का लेखन करते हैं, सर्वणवादी मानसिकता से ग्रसित हिंदी साहित्य समाज में आप जीवित कैसे हैं?

संजीव : हाँ, बिल्कुल ये है, किसी की मैंने परवाह नहीं की, क्योंकि पहली बात तो यह कि मैं गाँव में रहा था बचपन में, जब तीन साल का हुआ कुल्टी चला गया, एक मझोले स्तर

के कस्बाई शहर में, जो इंडस्ट्रीयल था जो कोस्मोपोलिटन (विविध वर्णी समाज) था। एंगलो-इंडियन, फ्रेंच, अंग्रेज, आदिवासी, बंगाली, बिहारी, रायपूरिया, ओड़िया, तमिलनाडु के लोग, केरला के लोग, पंजाब के लोग, माने सारी दुनिया के कोने-कोने से आये हुए लोग वहाँ हैं। सर्वणवादी मानसिकता मुझे दबाने के लिए पर्याप्त थी जितना था, लेकिन मैं कुल्टी आ गया था और इसलिए एक पांव यहाँ एक पांव वहाँ, पूरे हिंदुस्तान में घूम-घूमकर चीजों को बिनना, उन अँचलों में जहाँ-जहाँ अब तक नहीं लिखा गया, भटकता रहा। और एक तो यह था कि अच्छा-सा बिल्डिंग है वाटर खनन कुल्टी में। तो लोगों को लेखन के लिहाज से नये-नये अंचलों को नई-नई बातें मिलती रहीं और इस लिहाज से लोगों ने उसका स्वागत किया। उस समय तक सवर्णवादी मानसिकता मुझे दबा नहीं पाई थी। हाँ! उसका दबाना कहाँ था, शोध नहीं होगा, पद, पीठ, पुरस्कार नहीं मिला। उसी प्रकार से अब तक मैं लिखता रहा। लेकिन मैं लिख तो गया, जितना ऑक्सीजन मुझे मिलती थी, उतने जिंदा रहा।

13. स्त्रियों, दलितों, ओ.बी.सी. और मुस्लिमों के ऊपर लिखने वालों को आज तक कोई पुरस्कार या प्रचार नहीं मिला है जबकि उसकी संख्या 75-90% के बीच है। क्या आप अपने आप को उपेक्षित महसूस करते हैं?

संजीव : उपेक्षित तो महसूस करते हैं लेकिन उससे क्या हुआ, जितना मुझे लिखना था, मैंने लिख दिया। अगर ताकत रही देह में तो आगे भी लिखना ही है। अब तो खिया गया हूँ और बीमार रहता हूँ। लेकिन आज पूरे हिंदी समाज से एक तरह से कह ही सकता हूँ कि मुझसे ज्यादा योग्य जो लोग थे जैसे –राजेंद्र यादव, फणीश्वरनाथ रेणु, राही मासूम रजा, आदिवासी लेखक ('आदिवासी लेखन तो इतना शानदार है कि शाबासी दिये बिना नहीं रह सकता), विनोद तिवारी (ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मणवाद के शिकार नहीं हुए) आदि तो उसमें से जहाँ-जहाँ से जितनी-जितनी ऑक्सीजन मुझे मिलती गई, मैं उतना जिंदा रहा। उपेक्षित तो हैं ही। 1964 से साहित्य अकादमी जैसे पुरस्कार है, मैं नहीं कहता कि हम बहुत योग्य हैं हमें मिलना चाहिए लेकिन अगर हम कहते हैं, सवाल करते हैं तो क्या गलत कहते हैं कि क्यों, हमें इसी बिनाह पर, जो ओ.बी.सी. हैं, जो दलित हैं, जो आदिवासी हैं, जो मुस्लिम माइनोरीटी हैं या

और लोग भी हैं, क्यों उनको नजरअंदाज किया गया। ये बौद्धिक जारी निर्देश ही तो है। हिंदी साहित्य सबको समावेशित करते हुए लिखा जाता तो क्या जाति आकलन किया जाता? हिंदी समृद्ध ही होती न। लेकिन उनका तो था कि मैं ही महान हूँ। तो क्यों उन्होंने उन सारी चीजों को छोड़ा, इगनोर किया? लेकिन हो सकता है कभी न कभी कवियों का मूल्यांकन होगा, ये पक्षपात जो है नजर आयेगी। कई बात मैंने इस पर ये भी किया है कि भईया एक है प्रचार-प्रसार, तो वह तो पद, पुरस्कार से होता है न। आप लेकचररशिप में जाइएगा तो पूछा जाएगा कि फलां साल में किसको-किसको, किस-किस विषय पर साहित्य अकादमी मिला है? निश्चित रूप से आप वहाँ ऐसे लोगों का नाम नहीं लेंगे क्योंकि उनको पुरुस्कार मिला ही नहीं, बस! वही लोग हैं जिन्हें साहत्यि अकादमी ने पुरुस्कार दिया, वही महान हैं। एक गलत धारणा बनती है न, तो ये सब चीजें हैं। जब बड़े-बड़े लोगों के साथ उपेक्षा हो गई तो हमलोग किस खेत की...। अभी मैंने कहा न कि कोयले पर मैंने पहले पहल लिखा, सर्कस पर मैंने पहले पहल लिखा, **'फाँस'** जो है किसानों की समस्या, आत्महत्या की समस्या पर लिखा, ये औरतों का जिंदा जलाया जाना, जिस सती की लोग पूजा करते हैं, मैंने उस पर पहले पहल लिखा, क्या ये सब चीजें उनको दिखाई नहीं देती हैं? क्यों नहीं दिखाई पड़ती है? इसलिए कि उनका मन ही जो है पक्षपाती है। हमलोग तो खैर आज हैं कल नहीं रहेंगे। लेकिन साहित्य को एक तरह से एकांगी दृष्टि दे करके उन्होंने बौना बनाने की कोशिश तो की। बहुत सांत्वना के शब्द मिलते हैं, लेखन से कोई बड़ा होता है, पुरुस्कारों से नहीं, लेकिन ये बातें सारगृत्य है। लेखन से बड़ा होते हुए भीऽऽऽ ...हमें भी भूख लगती है, प्यास लगती है, हमें भी पैसा चाहिए। ये सारी चीजें होती हैं, हमें सुरक्षित जिंदगी चाहिए। ये सब चीजें हम चाहते हैं तो हम अन्याय करते हैं। तुम पियो तो पुण्य-हम पिये तो पाप...।

14. इन दिनों आप क्या लिख रहे हैं?

संजीव : इन दिनों अभी 'मुझे पहचानो' सती प्रथा पर एक उपन्यास आया है। इसके पहले 'प्रत्यंचा' था। और अभी कुछ चीजें जो छुट गईं थी, महेंद्र मिश्र जो एक लोकगायक थे उनके एक पक्ष को गलत ढंग से पेश किया हिंदी साहित्य वालों ने, तो उसके लिए मुझे 'वो

प्यास है' एक उपन्यास महेंद्र मिसिर की गायकी। दूसरा है जो 'प्रकाश फैला गई' फंटासी है। इसके मुद्दे आप ऐसे नहीं देख सकते, फैंटसी के माध्यम से दख सकते हैं। वो कहानी थी पहले 'जो यही पद का अरथ लगावे' उसको उपन्यास में करना है। तीसरी जो सबस जरूरी चीज है अगर मैं जिंदा रहा तो वो है ज्योतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले।

15. बहुत-बहुत धन्यवाद सर आपको! आपकी आनेवाली रचनाओं का हमें इंतजार रहेगा, उसके लिए हमारी तरफ से आपको हार्दिक शुभेच्छा सर, स्वस्थ रहें। जल्द ही ज्योतिबा फुले पर जो रचना आयेगी उसका हमें बेसब्री से इंतजार रहेगा।

संजीव : और एक अंतिम बात मैं कह सकता हूँ कि भईया ज्योतिबा फुले पर तो और भी लिखा गया है, सावित्रीबाई फुले पर तो और भी लिखा गया है। राधाकृष्ण को आप शिक्षक दिवस में बहुत इज्जत के साथ पेश करते हैं, शर्म नहीं आती। ज्योतिबाबाई फुले की महान कर्त्तव्यों को, मैं महान शब्द जान-बुझकर प्रयोग कर रहा हूँ। आप उसे याद करें, कितना कृतघ्न हैं बड़ी जाति ...ये मेरी नहीं आश्चर्य है अपने कर्त्तव्यों के चलते। जो अपने पुरखों के या अच्छे लोगों के जो समाज के चाहे किसी भी जाति से आते हों इज्जत नहीं करते उनकी अच्छी बातों को अमल नहीं करते हैं, उनका सड़-गल जाना ही असंभावी है।

मैं : धन्यवाद सर!